स्याद्वाद की दृष्टि

(डॉ. श्री स्वर्णकिरण)

स्याद्वाद का अर्थ हैं वह दर्शन - सिद्धान्त जिसमें सर्व-देशीयता एवं सर्व प्रासंगिकता पर ध्यान दिया गया हो, जिसमें एकांतवाद (Fallacy of Exclusive Particularity) से बचाव हो। इधर अमरीका के नव वस्तुवादियों (Neo-realists) द्वारा एकांतवाद का घोर विरोध एवं स्याद्वाद का मौन समर्थन किया गया है, यह इस बात का द्योतक है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त उपयोगी एवं कालिक चेतना के अनुकूल है। यहाँ हम किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, किसी घटना, किसी दृश्य पर 'सप्तभंगी न्याय' लागू करते हैं, सप्तभंगी तर्क से विचार कर निष्कर्ष निकालते हैं और भावी मनोमालिन्य या झगड़े को मिटा देते हैं, हटा देते हैं। 'सप्तभंगी न्याय' के अनुसार जो हमारा विचार होता है वह वस्तुतः इस प्रकार है :-

(१) स्यात् अस्ति अर्थात् स्यात् है।

(२) स्यात् नास्ति अर्थात् स्यात् नहीं है।

(३) स्यात् अस्ति च नास्ति च अर्थात् स्यात् है और नहीं भी है।

(४) स्यात् अवक्तव्यम् अर्थात् स्यात् अवक्तव्य है।

(५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च अर्थात् स्यात् है और अवक्तव्य भी है।

(६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च अर्थात् स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी है।

(७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च अर्थात् स्यात् है, नहीं है, अवक्तव्य भी है।

स्यात् का अर्थ है शायद। जैन दर्शनविद् विचार के पहले 'स्यात्' शब्द जोड़कर वस्तुतः यह बतलाते है कि कोई भी विचार एकांत या निरपेक्ष सत्य नहीं है बल्कि सापेक्ष है, आपेक्षिक सत्य है। घड़े के संबंध में सप्तभंगी न्याय लागू करके हम ठोस उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। 'स्यात् घटः अस्ति' में 'स्यात्' के घड़े के स्थान, काल, रंग आदि का संकेत होता है। स्यात् घडा लाल है का मतलब हुआ - घड़ा सब समय के लिए लाल नहीं है। बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति में लाल है। यह भी बोध संभव है कि घड़े का लाल रंग एक विशेष प्रकार का है। घड़े के संबंध में नास्तिबोधक विचार इस प्रकार का होगा - स्यात् घड़ा उस कोठरी के अंदर कोई भी घडा नहीं है या कोई भी घडा नहीं रह सकता। 'स्यात्' शब्द इस बात का द्योतक है कि जिस घड़े के संबंध में विचार हुआ है वह घड़ा कोठरी के अंदर नहीं है। अर्थात् एक विशेष रंग-रूप का घड़ा विशेष समय में कोठरी के अंदर नहीं है। 'स्यात्' शब्द प्रयोग नहीं किया जाए तो किसी भी घड़े का बोध हो सकता है। घड़ा लाल है और नहीं भी है - इसका सामान्य रूप स्यात् 'अस्ति च नास्ति च' अर्थात् 'स्यात् है तथा नहीं भी है,' होगा। घड़े या किसी वस्तु के अस्तित्व तथा अनस्तित्व, अस्तित्व हीनता के संबंध में एक साथ ही बोध होता है। घड़ा जब अच्छी तरह से नहीं पकता है तो कुछ काला रह जाता है। जब पूरा पक जाता है तो लाल हो जाता है। यदि पूछा जाए कि घड़े का रंग सभी समय में तथा सभी अवस्थाओं में क्या है तो इसका एक मात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के संबंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है 'स्यात् अवक्तव्यम्' का साधारण अर्थ यही है। 'स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च' का अर्थ हुआ कि किसी विशेष दृष्टि से हम घड़े को लाल कह सकते हैं। किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट उल्लेख नहीं हो, निर्देश नहीं हो तो घडे के रंग का वर्णन असंभव हो जाता है। अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल है और अवक्तव्य भी है। पहले विचार में यहाँ चौथे विचार को मिला दिया गया है। 'स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च' अर्थात् स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है दूसरे और चौथे विचार को क्रमिक रूप से मोड़ दिया गया है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे विचारों को एक स्थान पर रख देनेपर सातवाँ विचार हो जाता है 'स्यात् अस्ति च - नास्ति च अवक्तव्यम् च' अर्थात् स्यात् है नहीं है और अवक्तव्य भी है। शुद्ध दर्शन की दृष्टि से 'सप्त भंगी न्याय' का चौथा विचार बहुत महत्वपूर्ण है। कारण सबसे पहले इससे यह बोध होता है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं या दृष्टियों के अनुसार ही किसी वस्तु का चाहे अलग-अलग या क्रमिक वर्णन हो सकता है। इस प्रकार अलग-अलग या क्रमिक वर्णन नहीं करके यदि परस्पर विरोधी धर्मो के द्वारा किसी वस्तु का हम युगपत् वर्णन करना चाहें तो सफल प्रयत्न नहीं होता और हमें लाचार होकर कहना पडता है कि वस्तु इस दृष्टि से अवक्तव्य है। दूसरी बात यह है कि सब समय किसी प्रश्न का सीधा अस्तिसूचक या नास्तिसूचक उत्तर दे देने में बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान लोगों के लिए यह समझना आवश्यक है कि ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। तीसरी बात यह है कि जैनतर्कविद् जैनतर्कशास्त्री तार्किक विरोध को एक दोष मानते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि परस्पर विरोधी धर्म एक साथ किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकते। पाश्चात्य तर्क-विज्ञान या तर्क-शास्त्र में अस्तिवाचक तथा नास्तिवाचक विशेषण जोडकर विचार के दो रूप किये जाते हैं, पर यहाँ 'स्याद्वाद' में विचार के सात रूप रखे जाते हैं और सभी संभावनाओं को आत्मसात् किया जाता है।

उत्पाद और व्यय के ध्रुवक्रम का नाम सत्ता है। कोई भी पदार्थ एकांत सत्य (Absolute truth) नहीं है। उसमें वृद्धि अथवा ह्रास की संभावना है। हमारे कर्म उर्ध्व मुखी तथा अधोमुखी होते रहते हैं। हमारा शरीर (तत्वतः) है (आभासतः) नहीं है अतः यह शरीर है भी, नहीं

गया समय आता नहीं, कभी लौट कर पास।
जयन्तसेन विवेक रख, पाओ शीघ्र प्रकाश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी है। पर ऐसा वाक्य व्याघात नियम के अनुसार असिद्ध है। कर्मफल के साथ भी हम यह तर्क लागू कर सकते हैं। 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका (रचयिता हरिभद्र सूरि तथा टीकाकार मणिभद्र सूरि) में एकांत सत्ता अथवा नित्यता का खंडन करते हुए कहा गया है - 'कोई वस्तु एकांत नित्य नहीं हो सकती।' क्योंकि वस्तु का लक्षण है : 'अर्थक्रियाकारित्व' और 'क्रियाकारित्व' का अर्थ ही है गतिशीलता और क्रमिकता पर जो नित्य है वह शाश्वत अक्रम और एक रूप है। अतः यदि वस्तु नित्य है तो उसमें क्रमिकता - नहीं, और क्रमिकता नहीं तो अर्थकारित्व नहीं, और अर्थकारित्व नहीं तो वह वस्तु ही नहीं। तात्पर्य यह कि जो नित्य है वह वस्तु नहीं है, और जो वस्तु है वह नित्य नहीं है। (तथापि वस्तुतस्तावदर्थक्रिया- कारित्वं लक्षणम्। तच्च नित्यैकान्ते न घटते। - अप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरैके रूपो हि नित्ये :- 'षड्दर्शन सम्मुच्चय।') इस प्रकार सामान्य और विशेष में भी व्याघात है। भला कोई भी गौरव विरहित उसे व्यक्ति अथवा उसे व्यक्ति विच्छिन्न गौरव का उपपादन कर सकता है ? कदापि नहीं। हर एक विशिष्ट गाय अपनी गौरव जाति की प्रतिनिधि है, और हर गौरव जाति की कल्पना विशिष्ट गौ से अनिवार्य रूप से संतुष्ट है। अतः एकमात्र सामान्य या एकमात्र विशेष की भावना 'अंधगजियता' है। (नहिं क्वचित्, कदाचित्, केनचित्) किञ्चित्, सामान्यं विशेष-विनाकृत-मनुभूयते विशेषो वा तद्विनाकृतः।... केवलं दुर्णयवत प्रभावित प्रबलमतिव्यामोहादेकमपलप्यात्तद् व्यवस्थापयन्ति कुमतयः। सोऽयं मन्धगजन्यायः!... निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खर - विषाणवत्। सामान्यरहित्वेन विशेषास्तद्वद् हि। - ('षड्दर्शन समुच्चय' एवं 'टीका'।) मतलब यह कि जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु को 'है' और 'नहीं' दोनों रूपों से रखा जाता है इससे समस्या का सुलझाव होता है। एकांत 'हां' या एकांत 'नहीं' न मानकर, प्रत्येक वस्तु को अनेकांत रूप से 'हां' या 'नहीं' मानना चाहिए।

स्याद्वाद की दृष्टि वास्तव में अनेकांतवादी दृष्टि है। 'यह घट है पर घट नहीं हैं' ('सर्वमास्तें स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च' - 'षड्दर्शन समुच्चय') अर्थात् दृष्टि भेद से घट भी है और नहीं भी है। एक दूसरा उदाहरण यहाँ अंधगजीयता अंधों का हाथीवाली कहावत से दिया जा सकता है। एक ही हाथी एक अंधे के लिए सूँढ जैसे गाजरनुमा या दूसरे के लिए दुम जैसा छडीनुमा और तीसरे के लिए कान जैसा पापड़नुमा। सच पूछा जाए तो हाथी गाजरनुमा, छडीनुमा और पापडनुमा है भी और नहीं भी है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से तो है, पर संश्लेषणात्मक दृष्टि से नहीं है। वास्तव में, ऐसा करके जैन दार्शनिक, शंकराचार्य के मतावलम्बी वेदांतियों के 'सत्य' और बौद्धों के शून्यः दोनों को 'अंधो का हाथी' मानते हैं। आवश्यकता है व्यापक और उदार दृष्टि की अनेकांतवादकी - जिसमें एक नहीं, अनेक दृष्टिकोणों का समावेश हो। स्वयं आचार्य शंकर सत्ता के तीन रूपों की कल्पना करते हैं - पारमार्थिक व्यावहारिक तथा प्रातिमासिक। इनका समय जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर से लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद का है। क्या हम महावीर के ऋण को आचार्य शंकर के द्वारा सत्ता के तीन रूपों की कल्पना में स्वीकार नहीं कर सकते ? (दृष्टव्यः विहारोद्भूत जैन दर्शन का समन्वयवाद, प्रो. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृ. ७६-७७) स्याद्वाद का अनिवार्य परिणाम अज्ञानवाद (Scepticism) में माना जाता है। अज्ञान, न कि ज्ञान, मोक्ष का आवागमन के चक्र से मुक्ति का साधन समझा गया और इस अज्ञानवाद के सप्तभंगी न्याय और नव तत्वों (जीवाजीवौ तथा पुण्यपापमास्त्रवसंवरौ। बन्धश्च निर्जरा मोक्षौ नवतत्वानि तन्मते अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष - 'षड्दर्शन समुच्चय') के सहारे ६७ अपवाद माने गये। इस संख्या की व्याख्या इस प्रकार की जाती है - सप्तभंगी न्याय की दृष्टि से नव तत्त्वों में से प्रत्येक के हिसाब से सात भेद। उदाहरण के लिए, जीव के हिसाब से -

जीव

सत्व	असत्व	सद्सत्व	अवाच्यत्व	सद्वाच्यत्व	असद्वाच्यत्व	सदसद्वाच्यत्व
१	२	३	४	५	६	७

इस क्रम से प्रकारतः नव तत्वों के हिसाब से ९ × ७ = ६३ उपभेद हुए। पर सत्व, असत्व, सद्सत्व और - अवाच्यत्व - इन चार दृष्टियों से नव तत्वों की उत्पत्ति का विचार करते हुए चार और उपभेद हुए। इस प्रकार अज्ञानवाद के ६३ + ४ = ६७ उपभेद हुए। अज्ञानवाद के ये भेद वस्तुतः जैन लोगों के समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

स्याद्वाद समन्वयवादी सिद्धान्त है - ऐसा स्वीकार करने में किसी तरह की हिचक का अनुभव नहीं होता। कर्मवाद को यहाँ महत्व दिया जाता है पर कर्मवाद से बढ़कर चरित्र निर्माण को समझा जाता है। जैन लोग यह मानते हैं कि जीव निसर्गतः अनंत-दर्शन अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य का भागी है। कर्म के परमाणु, जीव के

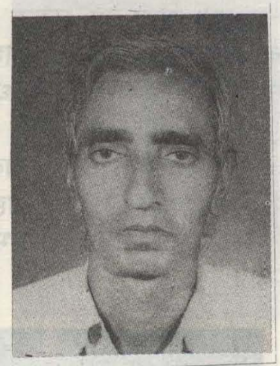

डॉ. स्वर्णकिरण
एम.ए., पी.एच.डी.

साहित्यालंकार, राष्ट्रीय गीतकार, साहित्य मनीषी, विद्यासागर (डी.लिट्.) साहित्य श्री, विद्यालंकार, लघुकथाचार्य आदि उपाधियों से सम्मानित। लगभग २५ पुस्तकों का प्रकाशन। कई ग्रंथों का सम्पादन तथा अनुवाद। कई पत्र पत्रिकाओ में सम्पादक या उपसम्पादक के रूप में कार्यरत। आकाशवाणी से भी रचनाओं का प्रकाशन। निबंध लेखन, कविता लेखन, अभिभाषण आदि में पुरस्कृत। जैन समाज आरा द्वारा पुरस्कार प्रदान। अनेक भाषा विद्, परम्परा में प्रयोग, प्रयोग में परम्परा के हामी, मानवमूल्य के पदाक्षर एक उल्लेख हस्ताक्षर।

काल चक्र चलता सदा, अमर रहा नहीं कोय।
जयन्तसेन करो वही, सुख शान्ति नित्य होय॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय (वासनाओ) से मिलकर और उसके साथ चिपककर जीव में आ घुसते हैं (आस्त्रवन्ति) । कर्म के इस आ घुसने को ही 'आस्त्रव' कहा जाता है । पर हममें जो 'संवर' (तप और सच्चरित्रता) है (जिसकी विस्तृत व्याख्याएं जैन दर्शन में परिलक्षित होती हैं) वह इस आस्त्रव को ढँक देने की चेष्टा करता है (सं + वृणोतीति संवरः) । परिणाम होता है जीव का 'निर्जर' - अर्जित कर्मो का क्षय एवं फल स्वरूप मोक्ष, आवागमन के चक्र से छुटकारा । (अमितकर्मभावान्निर्जरा हेतुसान्निध्येनार्जितस्य - कर्मणो निरसनादात्यन्तिक कर्म मोक्षणं मोक्षः - सर्वदर्शन संग्रह ।) कर्म सिद्धान्त से बढ़कर चरित्र - जीवन के व्यवहार रूप पर ध्यान जैन लोगों को व्यवहारवादी सिद्ध करता है । जैन लोग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को 'रत्नत्रय' के रूप में स्वीकार करते हैं और इन्हें मोक्ष का साधन समझते हैं । कुछ लोग इसे जैन लोगों का व्यवहारवाद कहते हैं । व्यवहारवाद और समन्वयवाद प्रायः साथ-साथ चलते हैं । इससे स्पष्ट है कि - जैन दर्शन समन्वयवाद को अधिक महत्व देता है । - लोक व्यवहार का तीव्र विरोध उसे अच्छा नहीं लगता ।

स्याद्वाद की दृष्टि जैन धर्मावलंबियों को जागरूक एवं निष्पक्ष सिद्ध करती है । किसी समस्या किसी सिद्धान्त, किसी व्यक्ति के संबंध में तर्क से बचना, तर्क से भय खाना इस बात का द्योतक है कि तर्ककरनेवाला सहम गया है, वह भय खाता है या हीन-भावना (Inferiority Complex) का शिकार बन गया है । 'साँच में आँच क्या' जैन दर्शन का उल्लेख तर्काधार है । जाँच से हिचकना पक्षपात का परिसूचक है । जैनी लोग कहते हैं - 'पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः' अर्थात् न तो तीर्थकर महावीर के प्रति पक्षपात का भाव है न ही सांख्य दर्शन के पुरस्कर्ता कपिलमुनि के प्रति द्वेष भाव है । 'स्याद्वाद मंजरी-कार की यह घोषणा कि - अपक्षपातो समय - स्तथोर्हतः' अर्थात् अर्हत् मार्ग निरपेक्ष है, अकारण नहीं है । निष्पक्ष परीक्षण व्यक्ति विशेष की विद्वत्ता, उन्मुक्त दृष्टि एवं कालिक चेतना का परिसूचक है । स्याद्वादी जैनतर्कविद् सभी व्यक्तियों, सभी मत मतांतरों को आदर की दृष्टि से देखते हैं वे केवल अपने मत को तो स्थापित करते ही हैं दूसरों के मत का अंध खंडन निकृष्ट कार्य समझते हैं ।

जैन दर्शनमें आत्मवाद का शेष भाग (पृष्ठ १०४ से)

जैन दर्शन में शक्ति की अपेक्षा आत्मा की एकता को स्वीकार किया गया है किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से आत्माएं भिन्न भिन्न हैं । मुनि रामसिंह पत्तियों, पुष्पों तथा वनस्पतियों तक में उसी आत्मा की स्थिति मानते हैं जो मनुष्य के शरीर में है ।[१] इन्दु मुनि कहते हैं - सभी जीव ज्ञानमय हैं, जन्म मरण से रहित है, जीवप्रदेश की अपेक्षा सभी समान हैं और गुणों की अपेक्षा वे एक है ।[२]

अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के द्वारा जैन दर्शन में जीव प्रदेश तथा गुणों की अपेक्षा सभी आत्माओं में समानता तथा एकता स्थापित करते हुए भी अनन्त आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार किया है, जो सभी आत्मज्ञान होने पर कर्ममल से विमुक्त होकर परमात्मा बन सकते हैं ।

जैन दर्शन में आत्मा को परमात्मा के समकक्ष घोषित किया गया है । इन्दु मुनि कहते हैं - हे योगी, जो ज्ञानमय परमात्मा है, वह मैं हूं और जो मैं हूं वही उत्कृष्ट परमात्मा है, ऐसा विचार कर ।[३] अन्यत्र वे बीज तथा वटवृक्ष के उदाहरण द्वारा भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वट के वृक्ष में बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और बीज में भी बट का वृक्ष रहता है, उसी प्रकार देह में भी उस देव को विराजमान समझो ।[४] वे आत्मा को ही शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा, अनन्त तथा सिद्ध आदि अनेक नामों से निर्दिष्ट परमात्मा मानते हैं ।[५]

---

१ पत्रिय पाणिय दब्भतिल, सव्व इं जाणि सवण्णु ।
पाहुड़दोहा १५९

२ जीवा सयलवि णाणमय, जम्मणमरणविमुक्क ।
जीवपसएसहिं सयल सम, सयलवि समुणहिं एक्क ॥

३ जो परमप्पा णाणमउ सो हंउ देउ अणंतु ।
जो हंउ सो परमप्पु पस, एहउ आवि णिमंतु ॥
परमात्मप्रकाश द्वितीय अध्याय १७५

४ जं वडमजकहं बीउ फुडु, बीयहं वडु विह जाणु ।
तं देहहं देउ वि मुणहि, जो तइलोयपदाणु ॥
योगसार, ७४

५ सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्ध वि सो बुद्ध
सो जिणु ईसरु वंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥
योगसार, १०५.

मधुकर-मौक्तिक

हमारे लिए यदि कोई अच्छा काम करता है, तो उसे हम भूल जाते हैं । और यदि कोई हमारा बुरा करता है, तो वह हमें याद रह जाता है । मतलब यह कि हम अच्छाइयों का संग्रह नहीं करते, बुराइयों का संग्रह करते जाते हैं । बुराइयों का संग्रह जल्दी होता है और फिर उसका प्रदर्शन होने लगता है । हमारी दुकान मानव-मन की है । दुकान ऊँची है, पर अन्दर माल जो है, वह घटिया किस का है; ऊँचा नहीं है । दुकान में जो माल है, उसमें संख्यात्मक वृद्धि जरूरी है, पर गुणात्मक वृद्धि शून्य है । दुकान में भूसा-ही-भूसा भरा है, अनाज का दाना देखने को भी नहीं है । ऐसी दुकान किस काम की ?

– जैनाचार्य श्रीमद् जयंतसेनसूरि 'मधुकर'

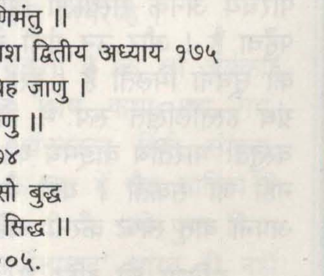

समय बडा ही सूक्ष्म है, समय न जीता जाय ।
जयन्तसेन समय समझ, यही सुखद सदुपाय ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org